ISSN 0973-8541, HUMANITIES AND DEVELOPMENT, VOL.20, No.2, April-June, 2025/12

पर्यावरण चिंतन की अग्रणी कवियित्री : निर्मला पुतुल

प्रतिमा राय एवं ज्ञान प्रकाश
https://doi.org/ 10.61410/had.v20i2.234

सारांश

निर्मला पुतुल आदिवासी समाज की आवाज हैं। वे अपने को खुद प्रकृति मानती हैं। इसलिए उनकी कविताओं में पारिस्थितिक चित्रण सबसे प्रमुख है। बढती सौन्दर्य से आज घटती सौन्दर्य की ओर जा रही अपनी माँ प्रकृति की इस दुरवस्था के प्रति वे अधिक चिंतित है। इसलिए वे अपनी रचनाओं में प्रकृति चित्रण को प्रकृति संरक्षण के साथ जोड़ने का प्रयास किया है जिसमें वे सफल भी हुए हैं। जंगली इलाकों में पत्नी बढी पुतुलजी ने अपनी कविताओं में प्रकृति सौन्दर्य के विभिन्न तत्त्वों का सूक्ष्म निरीक्षण किया है। उसकी प्रतिध्वनि पाठकों के हृदय में अपनी–सी एक अनुभूति प्रदान कर देती है। उनकी कविताओं में व्याप्त प्रकृति चित्रण को मुख्यतः दो बिन्दुओं में जोड़ सकते हैं– प्रकृति सौन्दर्य एवं प्रकृति के साथ मानव की तुलना।

बीज शब्द : पारिस्थितिकी, साहचर्य, ब्याहना, आधुनिकीकरण, मशीनीकरण, खिलखिलाहट, उपभोक्तावादी, विहंगम इत्यादि।

परिचय

भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य दोनों में युगों से प्रकृति चित्रण एवं चिंतन की परंपरा आगे बढ़ रहे हैं। जीवन हो या साहित्य, प्रकृति को छोड़कर आगे बढ़ना मुश्किल है। जिस प्रकार प्रकृति सौन्दर्य से हम सब आनंदित हो उठती हैं, उसी प्रकार प्रकृति का घोर रूप हमें भयभीत बना देते हैं। आदिवासी जीवन का आलम्ब प्रकृति है। समकालीन हिन्दी साहित्य में पारिस्थितिक चिंतन के विभिन्न आयाम दृष्टिगोचर है। प्रकृति से जुड़े उनके जीवन से उत्पन्न आदिवासी साहित्य में भी प्रकृति एक मुख्य पात्र है। पुतुलजी की कविताओं में व्याप्त आदिवासी चेतना को छोड़कर पढ़ें तो उन कविताओं में व्याप्त चेतना रूपी सिक्के के दो पहलू है, नारी और प्रकृति।

मुख्य भाग

निर्मला पुतुल अपनी कविताओं में विकास के नाम से अभिहित परदे के पीछे हो रही पारिस्थितिक क्षति के प्रति आवाज उठाती हैं। आदिवासी जीवन और इतिहास के संबंध में भारत के पारिस्थितिक इतिहास को जोड़ने का कार्य उनकी कविताओं में देख सकते हैं। पुतुलजी के अनुसार ''प्रकृति के साथ मनुष्य का रिश्ता आदिम है। इस रिश्ते की सघनता आदिवासी समाज की जीवन शैली और उसकी लोक परंपराओं में आज भी देखा जा सकता है। यदि आधुनिक विकास का तात्पर्य प्रकृति के साथ निरंतर युद्ध है तो परस्पर विरोधी प्रकृति के बावजूद साहचर्य की लोकतंत्रीय पद्धति क्या हो सकती है, आदिवासी लोक जीवन इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।''[1]

पुतुलजी की कविताओं में व्याप्त पारिस्थितिक संवेदना का घोर ताल यह है कि वह खुद आदिवासी समाज से है। इसलिए इनकी कविताओं में चित्रित प्रकृति का संवेदना पक्ष स्वानुभूत है। अनुभूत प्रकृति की चेतना उसमें निहित है। प्रकृति सौन्दर्य के चित्रण से लेकर प्रदूषण, आपदा तक

- शोध–छात्रा विश्वविद्यालय हिन्दी विभाग बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर
- सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, डॉ. राममनोहर लोहिया स्मारक महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर।

उनकी कविताएँ प्रतिरोध का रूप धारण कर लेती है। इन्हीं दृष्टि से उनकी कविताओं में व्याप्त पारिस्थितिक चेतना को खोजने का प्रयास आगे करेंगे।

प्रकृति सौन्दर्य को बृहद रूप में अपनाने वाली एक आदिवासी लड़की की शादी संबंधी आकांक्षाओं एवं आशाओं की कविता है 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा'। प्रस्तुत कविता के अनेक प्रसंग प्रकृति पर मग्न उनकी जिन्दगी की भोलेपन का कच्चा तस्वीर है। वह अपने पिता से अपने वर के बारे में कुछ शर्तें पेश करती है। सारी बातों में प्रकृति एक अंग है। उसकी अनुरोधों को एक–एक कर देखें तो समझ सकते हैं कि आधुनिकीकरण में खो रहे प्रकृति सौन्दर्य पर ही वह लड़की विलपती है। मशीनीकरण से आज जिन्दगी अधिक सुगम हो गई है। विकास के इस युग में मिट्टी से लेकर चाँद तक जाना आसान है। लेकिन एक सच्चे प्रकृति प्रेमी नैसर्गिक रूप में ही प्रकृति को अपनाते हैं। उस लड़की के साथ यहाँ पुतुलजी भी विलापती है कि खोई हुई प्राकृतिक सुषमा को उसी तरह लौट देना किसी भी विकास से संभव नहीं है।

एक बार नष्ट होती तो उसे पुनःस्थापित करने का मतलब है, उसमें कृत्रिमता भरना। जंगली एवं पहाडी इलाकों में प्रकृति की गोद में पत्नी बढ़ी एक लड़की को जंगल के बाहर की दुनिया में प्रकृति से अलग होकर रहने के बारे में सोच भी नहीं सकते। उसकी पारिस्थितिक जुड़ाव के जरिए पुतुलजी पर्यवरण सौन्दर्य के विभिन्न मुद्दों को प्रस्तुत कर देती हैं–

उस घर से मत जोड़ना मेरा रिश्ता/जिस में बड़ा–सा खुला आँगन न हो
मुर्गे की बाँग पर होती नहीं हो जहाँ सुबह/और शाम पिछवाड़े से जहाँ पहाड़ी पर डूबता सूरज न दिखे।''[2]

उस लड़की की जिन्दगी अपनी जगह की छोटी छोटी पगडण्डियाँ जहाँ पैदल चल सकें, वहाँ के घर जहाँ अपने सारे दुःख बताकर रो सकें, महुआ, खजूर का गुड जैसे प्राकृतिक उपादानों पर अडिग है। यह मात्र उस लड़की या पुतुलजी की मानसिक वृत्ति नहीं है। पूरे आदिवासी समाज ऐसा है। स्वच्छ प्रकृति के बिना उन्हें पृथ्वी अधूरा है।

'स्वर्गवासी पिता के नाम पाती' कविता में देर रात तक चाँद सितारों से बातें करने वाले एक बाबा है। भीनी हवाओं की मादकता के एक पहाड़ी राजकुमार की सपना देखने वाली आदिवासी कुँवारी लड़की का बयान है 'पहाड़ी यौवन' कविता। किलटा लेकर, पहाड़ों की और फल, लकडियाँ, घास आदि इकट्ठे करने के लिए जाती उस पहाड़ी लड़की के सपनों में प्रकृति भी किलटा लेकर, माथे पर ऊनी कपड़ा बांधकर चल जाने की अनुभूति है। पुतुलजी उस लड़की के जरिए नदी, नाले और पहाड़ों की सुषमा में खुद खो जाने वाली, सपनों में डूबने वाली आदिवासी संस्कृति का अंकन कर देती है–

''बदी–नालों पर्वतों में भटकती/नदी की आवाज में आवाज मिलाती
शरारतों और खिलखिलाहटों में/पल भर के लिए खो जाती है
जाती है हसीन वादियों में/देखा जाए तो उसकी गति में/तरल धार दिखती है।''[3]

आदिवासी लोग शारीरिक सौन्दर्य से परे मेहनत और ईमानदारी को प्रमुखता देनेवाले हैं। 'सुगिया' कविता इस तत्त्व का वाङमय आविष्कार है। सुगिया एक सुन्दर आदिवासी लड़की है। उसकी शारीरिक सौन्दर्य से मोहित पाँच आदमियों के कथन में कविता का ढाँचा निर्मित है। एक–एक कर सुगिया के सौन्दर्य की वर्णना करते हैं। इन पाँचों में चार लोग अपने वर्णन के लिए प्राकृतिक उपादानों का सहारा लेते हैं। सुगिया के होठ को सुग्गा जैसे, उसकी हँसी को बादलों के बीच की बिजली के समान, उसके गाने को कोयल की आवाज के समान और उसकी आँखों की खूबसूरती को हिरणी के

माफिक के समान। ऐसे प्रयोंगों का नमूना अन्य रचनाकारों की कविताओं में भी बेहद मात्रा में देख सकते हैं। फर्क यह है कि आदिवासी लड़की इन्हीं सराहने पर गर्व के बदले वेदना की अनुभूति प्रकट करती है। वह इस खोखले सौन्दर्य वर्णन में डूबने वाली नहीं है। वह किसी के द्वारा अपने मेहनत की कसीदा सुनना चाहती है। 'अपने घर की तलाश में' कविता भी इन्हीं प्राकृतिक उपमानों से युक्त सौन्दर्य हुलिया से अलंकृत है–

''जब हँसती खिलखिला कर उन्मुक्त हँसी/आसमान भर जाता उड़ते सफेद बगूले की पांतों से/जुड़े से खाँसकर पलाश के फूल जब नाचती कतारबद्ध मादल की थाप पर/आ जाता तब असमय वसंत।''[4]

पुतुलजी ने अपनी कविताओं में इस बात की और पाठकों को आकर्षित करने का प्रयास किया है। भारत के पर्वतीय अंचलों में पेड़ों एवं जंगलों के संरक्षण हेतु महिलाएँ भी आन्दोलन किया है जिसको भारतीय इतिहास साक्षी है। चिपको आन्दोलन इसका सशक्त नमूना है। आज शिक्षित और अशिक्षत, स्त्री और पुरुष सब मिलकर जंगलों की नाश करते विकास योजनाओं के विरुद्ध अपने समाज को सजगता प्रदान कर देते हैं। वे जंगलों पर हो रहे अनियंत्रित विनाश के प्रति क्षुब्ध है। उन्हें क्रोध इस बात में है कि सब जानकार भी अधिकारी गण चुप क्यों? सत्ता और अधिकारियों के विरुद्ध आवाज उठाने की हिम्मत किसी के पास नहीं है। डर, स्श्वितखोरी या मदिरा के भ्रम जाल में पड़कर अपने इलाके के नशे रूपी पेड़ों को काट देने में वहाँ के लोग भी शामिल है। इसमें क्षुब्ध होकर कवयित्री कटु आलोचना करती है और कहती है कि जितने पेडों की कटाई होगी उतना ही नाश हम सब को सुनिश्चित है। 'बिटिया मुर्मू के लिए' कविता की पंक्तियाँ इस सन्दर्भ में सार्थक है–

''देखो! अपनी बस्ती के सीमान्त पर/जहाँ धराशायी हो रहे हैं पेड़/कुल्हाड़ियों के सामने असहाय/रोज नंगी होती बस्तियाँ एक रोज माँगेगी तुमसे/तुम्हारी खामोशी का जवाब।''[5]

पुतुलजी की राय में विकास के नाम पर जंगलों की ओर आने वाले व्यवसायियों एवं अधिकारी वर्गों के पीछे एक उर्वर मस्तिष्क शामिल है। सदा स्वार्थ लाभेच्छा के प्रति चिंतित उन दुराग्रहों के शिकार बनने को आज आदिवासी समाज तैयार नहीं है। वे अपने ऊपर, जंगलों पर हो रहे षड्यंत्रों के प्रति सचेत है। अपनी संस्कृति और प्रकृति को छीनने वाले किसी को सहारा देने वाले आदिवासियों की संख्या आज कम हो रहे हैं। जंगलों को साफ करके ऑफिसर्स कॉलोनियाँ बनाने का नाम विकास नहीं है। जंगलों की लकड़ियों पर अधिकारियों की बुरी नजरें हैं। प्रकृति जीवन अपनाती आदिम जनता विनाश युक्त इस विकास से सहमत होना संभव नहीं है। दारू एवं धन से प्रभावित होकर खुद आदिवासियों को इस निष्ठुर वृत्ति के लिए वे तैयार करते हैं। लेकिन आज कई सच्चे समाज सेवियों के प्रयत्न से इस स्थिति में बदलाव दृष्टव्य है। 'तुम्हारे एहसान लेने से पहले सोचना पडेगा हमें' कविता में वर्षों से चुप रहने वाले आदिम समाज का शोर सुनने को मिलते हैं। आज परिवेश बदल गया। अधिकांश आदिवासी जनता का दिल–दिमाग में अपनी संस्कृति को उसी तरह कायम रखने की चाह है। माँ प्रकृति की गोद में पत्नी बढ़ी एक को उसी प्रकृति पर अनियंत्रित हस्तक्षेप कैसे कर सकते हैं। इस प्रतिक्रया का इशारा है–

''हमारे जंगल की लकड़ियों से/राजभवन आवास और गेस्ट हाउस
केलिए/दरवाजे–खिड़कियाँ और राउंड टेबल बन रहे हैं हम चुप हैं।''[6]

गंगा भारतीयों की पुण्य नदी है। सर्वपापहरिणी गंगा आज मानव निर्मित पापों से ग्रसित है। 'नमामी गंगे' पद्धति की वजह से आज सरकार और परिस्थिति वादियों ने इस दुरावस्था को एक समाधान खोज कर रहे हैं। पापों को गंगा में बहाकर मुक्ति या मोक्ष प्राप्त करना भारतीय हिन्दू विश्वास है। लेकिन आज इन्हीं पाप के साथ शहर की औद्योगिक, व्यावसायिक, घरेलू सारी तरह की गंदगी गंगा को मलीमास कर देते हैं। गंगा आज 'गंदी' है। इस दुरावस्था को और उसे पार करने की विफल योजनाओं को पुतुलजी 'गंगा' कविता में प्रतिबिंबित कर देती है। उनके अनुसार भारतीय संस्कृति में पवित्र मानने वाली इस नदी को ऐसी एक दुरवस्था मानव राशी की अज्ञता की परिणिति है। गंगा की मुक्ति के नाम पर पिछले वर्षों में हुए विफल पद्धतियों पर भी वे प्रश्नचिह्न लगाते हैं। गंगा के इर्द–गिर्द में जिन्दगी आगे बढ़ानेवालों की आर्थिक क्षति को भी कवयित्री गंगा की दुर्दशा से जोडती है। पवित्र गंगा की महिमा गाकर उससे पेट भरने वाले कपट धर्म सेवियों एवं अधिकारियों ने ही गंगा को बदल दिया। वे कहती है कि अगर भागीरथ को गंगा की इस अभद्र स्थिति का ज्ञान पहला हो तो वह गंगा की जरूर इस धरती पर नहीं छोडती और गंगा पृथ्वी पर पाँव नहीं रखती। आज गंगा उतनी प्रदूषित है। व्यंग्य के तीखे प्रहार से पुतुलजी इस क्रूर स्वार्थता को यों व्यक्त कर देती है–

''और यह भी सच है कि गर होते/आज भगीरथ जिंदा तो फिर छेड़ देते कोई लंबा जेहाद/पर अफसोस रोज डुबकियाँ लगा पवित्र हो जाने का भ्रम पाले लोग/दाल रोटी के मुद्दे की तरह उछाल नहीं पा रहे तुम्हारी मुक्ति का सवाल।''[7]

पारिस्थितिक दोहन का सबसे क्षतिपूर्ण परिणाम का नाम है पारिस्थितिक आपदा। इसका व्यापक असर मानव, प्राणी, पेड़–पौधे, संपत्ति सब पर पड़ते हैं जिससे कई जीवन एवं युगों से अर्जित कई सामग्रियों को एक झटके में नष्ट होते हैं। उससे मुक्ति पाना वर्तमान समय की बढती माँग है। प्रकृति पर मानव के अनियंत्रित हस्तक्षेप से आज जलवायु की स्थिति का पूर्वानुमान करना विज्ञान जगत् को भी कठिन बात है। फलतः अचानक बाढ़, सूख, भूस्खलन, तूफान जैसी प्राकृतिक आपदाओं से जन धन को हमला होना आज एक चिर संभव है। बढती औद्योगीकरण और उपभोक्तावादी संस्कृति से प्रकृति की नैसर्गिकता नष्ट हो रही है और प्रकृति के कराल रूप के सामने मनुष्य निकम्मे बन जाते हैं। यही आज की सबसे बड़ी दुरवस्था है। अनेक साहित्यकार पर्यावरण पर हो रहे स्वार्थ वृत्तियों से दूषित प्रकृति की प्रतिक्रिया स्वरूप प्राकृतिक विपदों को नजदीकी सी दिखाने का प्रयास किया है। पुतुलजी ने अपने तीनों संग्रहों में इस बात का जिक्र किया है। अभी चुप रहो विधानसभा में बाढ़ आयी हैश कविता का विषय राजनैतिक होते हुए भी उसमें बाढ़ की विद्रूपताओं एवं आम जनता पर उसके बुरे असर का उल्लेख है। बाढ़ की तीक्ष्ण अनुभवों से प्रताड़ित आम जनता के सामने सरकार की निष्क्रियता के प्रति भी पुतुलजी इशारा कर देती है। जीवन सहित सारी संपदा खो जाने के बाद सरकार से मिली क्षति पूर्ती के प्रति भी वे अपने तीक्ष्ण वाणी का प्रहार करती है। व्यंग्य के स्वर में ज्वलंत वेदना बाढ़ से उन्हें हुई कठिनाइयों के तीखेपन की गुंजाइश है। घर एवं फसल डूब गया है, पुल बह गया है, ये बातें पहाड़ी एवं जंगली इलाकों के लोगों की जिन्दगी में लगातार आनेवाली दुर्दशा है। प्रकृति के घोर ताण्डव के सामने अपने सब कुछ नष्ट होने पर भी उस विपत्ति पर चुप रह जाने के लिए वे विवश है। मुआवजा के लिए फार्म भर कर क्षति पूर्ती अपनाने के बिना इसके लिए एक समझौता या भुगतान अभी तक नहीं हुई है।

''फसल डूब गई तो डूब जाने दो/सरकार ने तो तुम्हारी फसल का बीमा
कर ही दिया था/चिंतित क्यों हो, क्षति–पूर्ती मिल जाएगी
अरे बाढ़ का क्या है? / आती है, जाती है।''[8]

सुविधाओं के अंधे भ्रमजाल में पड़कर अधिकारी वर्ग की संवेदना नष्ट हो जाती है। वे अपनी पर्यावरण को बली चढ़ाकर उसमें पुल, बाँध, डायनामइट का प्रयोग करते रहते हैं और अपनी ही पृष्ठभूमि प्रकृति को निष्प्राण बनाते हैं। बढ़ती सूखापन, अतिवृष्टि, भूमि स्खलन, सुनामी आदि प्राकृतिक आपदाओं से खुद प्रकृति ही इस क्रूरता के विरुद्ध प्रतिक्रिया कर देती है। जीव, संपत्ति के अनेक विनाश का इतिहास इसकी वजह से होते हुए भी आज तक प्राकृतिक दोहन की सीमा में कोई रुकावट नहीं है। वह दिन–व–दिन बढ़ते रहते हैं। 'पर्यावरण रक्षोः परम धर्म' केवल कागज पर छोड़ देते हैं और खनन, खुदाई, दोहन एवं कटाई से प्रकृति का हनन चल रहे हैं। सभी जीवजालों को एक दिन इसका प्रत्युत्तर देना पडेगा। बल्की वर्तमान परिवेश में इसका सबसे ज्यादा बुरा असर जंगलों में रहते आदिवासियों पर ही पड़ते हैं। अशिक्षा एवं अंधविश्वास की मायने में आदिवासियों को मापकर उन्हें रोजगार एवं पैसे का मोह देकर दिक समाज अपने लाभ के लिए उन्हीं से उनकी प्रकृति को उखाड़ कर फेंकता है। बढ़ती शिक्षा और अनुभवों से प्राप्त सबकों से आज इस स्थिति में कई बदलाव आ गये हैं। पुतुलजी कहती है कि आज दिकुओं एवं नेताओं का एहसान वे सौ बार सोचने के बाद ही लेते हैं। निडरता से वे अपने समुदाय की वाणी को अपनी पंक्तियों में समेट लेती है–

''अगर हमारे विकास का मतलब/हमारी बस्तियाँ को उजाड़कर कल–कारखाने बनाना है/तालाबों को भोथकर राजमार्ग जंगलों का सफाया कर ऑफीसर्स कोलनियाँ बसानी हैं और पुनर्वास के नाम पर हमें/हमारे ही शहर की सीमा से बाहर हाशिए पर धकेलना है/ तो तुम्हारे तथाकथित विकास की मुख्यधारा में शामिल होने के लिए /सौ बार सोचना पडेगा।''[9]

निष्कर्षः

प्रकृति के बिना मानव और मानव निर्मित साहित्य अधूरा है। पाँच ज्ञान इन्द्रियों से अनुभूत पारिस्थितिक बोध सफल साहित्यकार की रचनाओं में हमेशा प्रतिफलित होता है। पुरातन काल से ही प्रकृति चित्रण काव्य में दर्शित है। सामाजिक विकास के साथ हो रहे पारिस्थितिक बदलावों के अनुसार प्रकृति का साहित्यिक अभिव्यक्ति में भी बदलाव आ चुका है। जहाँ मानव के अनियंत्रित हस्तक्षेप से पारिस्थितिक संतुलन बिगड़ जाने लगा, वहाँ से पारिस्थितिकी की चर्चा और परिस्थिति चेतना साहित्य में उदित हुई। वर्तमान साहित्य में पारिस्थितिक बोध, आज की विकास नामी विपत्ति से और पारिस्थितिक संपदाओं के अति शोषण से प्रकृति को बचाए रखने का प्रतिरोधी भावना है। निर्मला पुतुल की कविताएँ प्रकृति के प्रति अधिक संवेदनशील है। वे प्रकृति को मानव जीवन का अभिन्न और अनिवार्य अंग मानते हैं। काल्पनिक कविताओं के समान कथ्य के वर्णन में वे पारिस्थितिक प्रतीकों एवं प्रकृति चित्रण का इस्तेमाल करती है और तथ्यों के सूक्ष्म रूप से विश्लेषण करने के लिए किसी उपाधि के समान प्रकृति के विहंगम दृश्यों की प्रस्तुति करती हैं। आज की उपभोक्तवादी संस्कृति की वजह से नष्ट हो रही पारिस्थितिक संपदाओं के बारे में सूचना देते वक्त आदिवासी और प्रकृति के बीच का पारस्परिक संबंध को वे उजागर कर देती हैं। पारिस्थितिक दोहन से प्रकृति पर हो रही परिवर्तनों का सूक्ष्म निरीक्षण उन्होंने किया है। पेड़–पौधे, नदी, पहाड़, जीवजन्तु एवं जंगल के महत्त्व समझाने में वे सफल रहे। प्रकृति के नाश जीवजंतुओं एवं मानवराशि के संपूर्ण विनाश है। यही चेतावनी देते हुए

पुतुलजी पर्यावरण संरक्षण की आवश्यकता की और सजगता प्रदान करती है और उसमें पाठकों में रूचि उत्पन्न करने का कार्य किया है।

संदर्भ–सूचीः–

1. युद्धरत आम आदमी, सं. रमणिका गुप्ता, अप्रैल–जून 2010, जहाँ जीवन ही लोक परंपरा है, सियाराम मीणा, पृ. 61
2. उतना दूर मत ब्याहना बाबा, नगाड़े की तरह बजते शब्द (काव्य संग्रह), पुतुल निर्मला, पृ. 49
3. पहाड़ी यौवन, वही, पृ. 43
4. आदिवासी स्त्रियाँ, अपने घर की तलाश में (काव्य संग्रह), पुतुल निर्मला, पृ. 6
5. बिटिया मुर्मू के लिए, अपने घर की तलाश में (काव्य संग्रह), पुतुल निर्मला, पृ. 14
6. एक सार्थक चीख के पहले की गहराती चुप्पी, बेघर सपने (काव्य संग्रह), पुतुल निर्मला, पृ. 52
7. गंगा, बेघर सपने (काव्य संग्रह), पुतुल निर्मला, पृ. 43–44
8. अभी चुप रही विधानसभा में बाढ़ आयी है, वही, पृ. 57
9. 'तुम्हारे एहसान लेने से पहले सोचना पड़ेगा हमें, वही, पृ. 40